



## International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2019; 5(6): 181-183

© 2019 IJSR

www.anantaajournal.com

Received: 21-09-2019

Accepted: 25-10-2019

डॉ० देव निरंजन झा

पूर्व शोध छात्र, संस्कृत विभाग,  
पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार,  
भारत

### भारतीय धर्म की अवधारणा

#### डॉ० देव निरंजन झा

##### सारांश:

सम्पूर्ण विश्व के समस्त पदार्थ एवं द्रव्यों के संयोग तथा एकत्र धारण से जीवन का निर्वाह होता है। इस निर्वाह के लिये ही धर्म का उद्भव है। सूर्य, चन्द्रमा, तारामण्डल और पृथ्वी आदि पदार्थ परस्पर एक-दूसरे के उपकार्य-उपकारक भाव से विधृत हैं और वे परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट अपने-अपने कार्यों करने में समर्थ होते हैं। मानवों को अपने उत्कर्ष के साधन के लिये समाज की अपेक्षा है।

##### प्रस्तावना:

समाज का समाजत्व इसी में है कि वह विभिन्न प्रकार की मानस वृत्तियों से युक्त व्यष्टि मानवों की स्थिति का सामंजस्य करता है। यही कारण है कि धर्म में ही समाज की प्रतिष्ठा है, केवल मानव समाज की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण जगत् की प्रतिष्ठा धर्म में ही है। इस विषय में यह श्रुतिवाक्य है—<sup>[1]</sup> 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा। लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति। धर्मेण पापमपनुदति। धर्मे सर्व प्रतिष्ठितम्। तस्माद् धर्म परमं वदन्ति।' अर्थात् सम्पूर्ण जगत् का आधार एकमात्र धर्म है। समस्त प्रजा धार्मिक के पास, अपने-अपने संशयों को निवृत्ति करने के लिए जाती है। धर्म से ही पाप की निवृत्ति होती है। इसलिए विश्व में सबसे श्रेष्ठ तत्त्व धर्म है।

धर्मशब्द धृ धातु (धृञ् धारणे) से बना है, जिसका तात्पर्य है धारण करना, आलम्बन देना, पालन करना। यथा—<sup>[2]</sup> 'धर्मः (धियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा धृ+मन्)।' धर्म सम्पूर्ण जगत् को धारण करता है, सबका पालन-पोषण करता है और सबको अवलम्बन देता है इसलिए सम्पूर्ण जगत् एकमात्र धर्म के ही बल पर सुस्थिर है। अतः राजनीति के महान् ऋषि चाणक्य ने कहा है कि—<sup>[3]</sup> 'अतएव लोकधारणाद् धर्म इति निरुच्यते।' 'धर्मेण धार्यते लोकः।' इस प्रकार मनुष्य के जीवन को सदैव सुखमय बनाकर उस कृतकृत्य कर देने वाला मुख्य पुरुषार्थ धर्म है। ईश्वर की जो समस्त जगत् को धारण करने की शक्ति है, उस ईश्वरेच्छारूप अलौकिक शक्ति का नाम धर्म है। यथा—<sup>[4]</sup>

'या बिभर्ति जगत्सर्वम् ईश्वरेच्छा ह्यलौकिकी।  
सैव धर्मो हि सुभगे, नेह कश्चन संशयः।।'

धर्म शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की गई है— 'धनानि स्त्रौति इति धर्मः।' अर्थात् जो शक्ति प्राणियों की सुख-समृद्धि के लिए सब प्रकार के धन-धान्य आदि अभीष्ट वस्तुओं के स्रोत उत्पन्न करती है, उसे धर्म कहते हैं। धर्म का एक नाम वृष भी है। <sup>[5]</sup> अतः वृष शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार भी धर्मशब्द के इस अर्थ की पुष्टि होती है— 'वर्षति अभीष्टान् कामान् इति वृषः।' अर्थात् प्राणियों की सुखशान्ति के लिए, उनके अभिलषित पदार्थों की, जो वृष्टि करता है— उसको वृष (धर्म) कहते हैं। इसी प्रकार— 'धारयते लोकम् इति धर्मः', 'धियते लोकोऽनेन इति धर्मः', 'धरति लोकम् इति वा धर्मः' इत्यादि व्युत्पत्तियों के अनुसार 'धृञ् धारणे' धातु से 'मन्' प्रत्यय करने से धर्मशब्द निष्पन्न होता है। तदनुसार जो तत्त्व प्राणियों का धारण, पालन-पोषण करता हुआ उन्हें सुख-शान्ति से आप्यायित करता है, उसे धर्म कहते हैं। धर्म अकर्तव्य की, पापी की अर्थात् दुराचारी की सीमा का अन्त कर देता है।

धर्म का एक नाम पुण्य भी है। पुण्यशब्द 'पुञ् पवने' धातु से 'डुण्य' प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। पुण्यशब्द की व्युत्पत्ति— 'पुनाति, इति पुण्यम्' से हुई है। अर्थात् जो प्राणियों के मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीर और कर्म को पवित्र कर दे, उसे पुण्य कहते हैं। धर्म की उत्पत्ति कर्म से होती है। इसीलिए महर्षि गौतम के मतानुसार धर्म की यह परिभाषा है कि कर्म से उत्पन्न, अभ्युदय और निःश्रेय का साधन, अपूर्व नामक जो आत्म-गुण है, वह धर्म है। यथा—<sup>[6]</sup> 'कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः, अपूर्वाख्य आत्मगुणोः धर्मः।' महर्षि कणाद के अनुसार— 'जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति होती हो वह

Corresponding Author:

डॉ० देव निरंजन झा

पूर्व शोध छात्र, संस्कृत विभाग,  
पटना विश्वविद्यालय, पटना, बिहार,  
भारत

धर्म है।' इनमें अभ्युदय का अर्थ है— 'अभितः उदम्— अर्थात् सब तरह से आगे बढ़ना, उन्नति को प्राप्त होना।'<sup>[7]</sup> 'निःश्रेयस का अर्थ है—<sup>[8]</sup> 'निश्चित श्रेयः निःश्रेयसम्— निश्चित फल अर्थात् जो कभी भी क्षीण नहीं होता— ऐसे परम आनन्द की, सर्वोच्च लक्ष्य की प्राप्ति, भगवत्प्राप्ति अथवा मोक्षप्राप्ति। अथवा 'नास्ति श्रेयान् यस्मात् तत् निःश्रेयसम्— जिससे बढ़कर और कोई उत्तम फल न हो।' श्रुति के द्वारा जो कर्म विधि रूप में विहित होते हैं, वे धर्म हैं— ऐसा कहा जाता है। पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म को प्रथम स्थान प्राप्त है। श्रुति के द्वारा जो कर्म निषिद्ध होते हैं, वे अधर्म कहलाते हैं, क्योंकि धर्माधर्म की व्यवस्था में वेद का ही परम प्रामाण्य है। इस विषय पर भागवत में कहा गया है— 'धर्मं चूँकि भगवत्प्रणीत है, इसलिए धर्म का ज्ञाता और बोद्धा एक भगवान् ही है, ऋषि, देव और सिद्ध नहीं, मनुष्य, विद्याधर, चारणादि की तो बात ही क्या है?। यथा—<sup>[9]</sup>

'धर्मं तु साक्षात् भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः।  
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतश्च विद्याधरचारणादयः।'

भारतीय ग्रन्थों में धर्म के स्वरूप को देखते हुए डॉ० राधाकृष्णन् ने धर्म की परिभाषा करते हुए कहा है कि— 'धर्म चारों वर्गों और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के सम्बन्ध पालन करने योग्य मनुष्य का समूचा कर्तव्य है।<sup>[10]</sup> 'धर्म वे नियम हैं जिनसे मानवजीवन पशुओं से भिन्न उचित ढंग से भलिभाँति चलता रहे। यथा—<sup>[11]</sup> 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।' धर्म का नाम धर्म इसलिए पड़ा है कि वह सबको धारण करता है— अधोगति में जाने से बचाता और जीवन की रक्षा करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण कर रखा है, अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता है, वही धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है। यथा—<sup>[12]</sup>

'धारणाद्धर्म इत्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।  
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः।'

धर्मसूत्रों के विषयों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में सम्पूर्ण मानव—जीवन से सम्बद्ध धारणा से ही धर्म का तात्पर्य था। डॉ० पी०वी० काणे ने अपने ग्रन्थ 'धर्मशास्त्र के इतिहास' में धर्मशास्त्रकारों का मत स्पष्ट किया है—<sup>[13]</sup> 'धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का प्रतीक नहीं है, प्रत्युत यह जीवन का एक ढंग या आचरण—संहिता है, जो समाज के किसी अंग एवं व्यक्ति के रूप में मनुष्य के कर्मों एवं कृत्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ उसे मानवीय अस्तित्व के लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है।' प्रमुख धर्मशास्त्रकार मनु ने अपने ग्रन्थ मनुस्मृति में धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी है— धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच (पवित्रता) इन्द्रियों को वश में करना, ज्ञान, विद्या, सत्य, क्रोध का त्याग ये दस धर्म के लक्षण हैं। यथा—<sup>[14]</sup>

'धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।  
धीर्विधा सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।'

अनेक स्थानों पर धर्म, धार्मिक विधियों एवं धार्मिक क्रिया संस्कारों के रूप में ही प्रयुक्त हुआ है, जैसे— ऋग्वेदीय अनेक मन्त्रों में।<sup>[15]</sup> 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासनं ऋचा उपर्युक्तं कथनं को प्रमाणित करती है। इसी प्रकार 'प्रथमा धर्मा'<sup>[16]</sup> तथा 'सनता धर्माणि'<sup>[17]</sup> का अर्थ क्रमशः प्रथम विधियाँ तथा प्राचीन विधियाँ हैं। कुछ स्थानों पर यह अर्थ नहीं भी प्रकट होता है, जहाँ पर धर्म का अर्थ निश्चित नियम (व्यवस्था या सिद्धान्त), एवं आचरण नियम है। यथा—<sup>[18]</sup>

'आ प्रा रजांसि दिव्यानि पार्थिवा श्लोकं देवः कृणुते स्वाय धर्मणे।'  
'धर्मणा मित्रवरुण विपश्चिता व्रता रक्षथे असुरस्य मायया।'  
'द्यावापृथिवी वरुणस्य धर्मणा विष्कभिते अजरे भूरितेतसा।'

'अर्चिती यत्तव धर्मा युयोपिमा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः।'

अथर्ववेद में धर्म शब्द का प्रयोग 'धार्मिक—क्रिया—संस्कार करने से अर्जित गुण' के अर्थ में हुआ है। यथा—<sup>[19]</sup>

'ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।  
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले।'

ऐतरेय ब्राह्मण में धर्मशब्द सकल धार्मिककर्तव्यों के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा—<sup>[20]</sup> 'धर्मस्य गोप्ताजनीति तमभ्युत्कृष्टमेवविदभिषेक्ष्यन्तयार्चाभि मन्त्रयेत।' छान्दोग्योपनिषद् में धर्म का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ मिलता है, जिसके अनुसार धर्म की तीन शाखा मानी गयी है, यथा—<sup>[21]</sup> 'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एवेति द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्य कुलेऽवसादयन्। सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति।' अर्थात्—

1. यज्ञ, अध्ययन एवं दान अर्थात् गृहस्थधर्म,
  2. तपस्या अर्थात् तापसधर्म तथा
  3. ब्रह्मचारित्व अर्थात् आचार्य के गृह में अन्त तक रहना।
- यहाँ धर्मशब्द आश्रमों के विलक्षण कर्तव्यों की ओर संकेत कर रहा है। इस प्रकार धर्मशब्द का अर्थ समय—समय पर परिवर्तित होता रहा है। परन्तु अन्त में यह मानव के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों, बन्धनों का द्योतक, आर्य जाति के सदस्य की आचार—विधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक हो गया।<sup>[22]</sup> तन्त्रवार्तिक के अनुसार धर्मशास्त्रों का कार्य है वर्णों एवं आश्रमों के धर्मों की शिक्षा देना। यथा—<sup>[23]</sup> 'सर्वधर्मसूत्राणां वर्णाश्रमधर्मोपदेशित्वात्।' मनुस्मृति के व्याख्याता मेधातिथि के अनुसार स्मृतिकारों ने धर्म के पाँच स्वरूप माने हैं— वर्णधर्म, आश्रमधर्म, वर्णाश्रमधर्म, नैमित्तिक धर्म (यथा प्रायश्चित्त) तथा गुणधर्म (अभिषिक्त राजा के संरक्षण सम्बन्धी कर्तव्य)।<sup>[24]</sup> गोविन्दराज ने धर्म के ये ही पाँच प्रकार उपस्थित किये हैं। पूर्वमीमांसा सूत्र में जैमिनि ने धर्म को 'वेदविहित प्रेरक' लक्षणों के अर्थ में स्वीकार किया है, अर्थात् वेदों में प्रयुक्त अनुशासनों के अनुसार चलना ही धर्म है। धर्म का सम्बन्ध उन क्रिया संस्कारों से है, जिनसे आनन्द मिलता है और जो वेदों द्वारा प्रेरित एवं प्रशंसित है। यथा—<sup>[25]</sup> 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः।' धर्मसूत्रों की दृष्टि में धर्म आचरण की वस्तु है और उसका सम्बन्ध मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है। आपस्तम्ब के शब्दों में वेद के अक्षरों का ज्ञान प्राप्त कर लेने से ही धर्म का बोध करना कठिन है, किन्तु वेद द्वारा लक्षित कर्मों के आचरण से धर्म का पालन सरलता से होता है। यथा—<sup>[26]</sup> 'कृच्छा धर्मसमाप्तिरसमाप्नानेन लक्षणकर्मणा तु समाप्यते।' वसिष्ठ के अनुसार धर्म द्वारा जिन क्रियाओं का विधान किया जाता है वे ऐसी हैं कि उनका कारण नहीं दिखायी पड़ता। यथा—<sup>[27]</sup> 'अगूह्यमाणकारणो धर्मः।' दूसरी ओर धर्म के लौकिक और पारलौकिक फलों का संकेत करते हुए आपस्तम्बधर्मसूत्र में कहा गया है, जिस प्रकार फल के लिए आम का पेड़ लगाया जाता है, किन्तु उससे छाया तथा सुगन्ध भी प्राप्त होती है, उसी प्रकार धर्म का आचरण करने पर लौकिक फल भी गौण रूप से उत्पन्न होते हैं। यदि धर्मों के आचरण से लौकिक फल नहीं उत्पन्न होते तो भी धर्म की हानि नहीं होती। यथा—<sup>[28]</sup> 'तद्यथाऽऽनेफलार्थे निमित्ते छाया गन्ध इत्यनूपद्यते, एवं चार्यमाणमर्था, अनूपद्यन्ते। नो चेदनूपद्यन्ते न धर्मधनिर्भवन्ति।' बौधायन ने धर्म के चार भेदों का उल्लेख कर, उससे यज्ञक्रिया का ही अर्थ लिया है, अर्थात् ऐष्टिक, पशुयज्ञ, सोमयज्ञ और दर्वीहोम। यथा—<sup>[29]</sup> 'तस्य ह वा एतस्य धर्मस्य चतुर्धा भेदमेक आहुरदृष्टत्वात् ये चत्वार इति कर्मवादः। ऐष्टिक पाशुकसौमिकदार्वीहोमाणाम्।' धर्म के प्रयोजन के विषय में आपस्तम्ब धर्मसूत्र यह चेतावनी देता है कि धर्म का आचरण केवल सांसारिक उद्देश्यों अर्थात् यश, लाभ, सम्मान के लिए नहीं करना चाहिए, अन्यथा धर्म, फल देने के समय निष्फल हो जाता है। यथा—<sup>[30]</sup> 'नेमं लौकिकमर्थं पुरस्कृत्य

धर्माश्चरेत्। निष्फला ह्यभ्युदये भवन्ति। धर्मसूत्र धर्म के आचरण से पुण्य या स्वर्ग की प्राप्ति और उसके उल्लंघन या अधर्माचरण से नरक में पतन का बार-बार उल्लेख करते हैं।<sup>[31]</sup> धर्म ही मनुष्य का सच्चा साथी है। मनुष्य कहीं भी जाए, धर्म ही उसके पीछे जाता है। यथा—<sup>[32]</sup>

‘धर्म एकोऽनुयात्येनं यत्र क्वचनगामिनम्।  
नन्वसारे नृलोकेऽस्मिन् धर्मं कुरुत माचिरम्।।’

### निष्कर्षः

धर्म की कुछ एकांगी परिभाषाएँ भी हैं, यथा—<sup>[33]</sup> ‘अहिंसा परमो धर्मः’, ‘आनृशंस्यं परो धर्मः’<sup>[34]</sup> हारीत ने धर्म को श्रुति प्रमाणक माना है। यथा—<sup>[35]</sup> ‘अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः। श्रुति प्रमाणको धर्मः। श्रुतिश्च द्विविधा— वैदिकी तान्त्रिकी च।’ धर्मसूत्रों की दृष्टि में धर्म एक अनुशासन है, एक ऐसे जीवन का विधायक है जो मनुष्य को लौकिक जीवन में निरन्तर असद् से सद् की ओर प्रेरित करता है, मर्त्यता से अमरत्व की ओर उन्मुख करता है और उसमें वैयक्तिक, सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन में अपने और दूसरों के कल्याण के लिए कर्म करने की प्रवृत्ति जगाता है।<sup>[36]</sup>

### सन्दर्भ—सूची:

1. महानारायणोपनिषद्— 17.6
2. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ०— 486
3. चाणक्यसूत्र, अ०— 1
4. गौतमधर्मसूत्र— टिप्पणी
5. पुरुषार्थ चतुष्टय, पृ०— 42
6. गौतमधर्मसूत्र— मिताक्षरावृत्ति
7. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ०— 81
8. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ०— 81
9. भागवत— 6.3.16
10. धर्म और समाज, पृ०— 123
11. महाभारत, शान्तिपर्व— 264.26
12. महाभारत, शान्तिपर्व— 106.11
13. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ०— 101
14. मनुस्मृति— 6.62
15. ऋग्वेद— 1.22.18, 5.26.6, 7.43.24, 6.64.1
16. ऋग्वेद— 3.17.1 तथा 10.56.3
17. ऋग्वेद— मण्डल— 3, सूक्त— 3, मन्त्र— 1
18. ऋग्वेद— 4.53.3, 5.63.7, 6.70.1, 7.86.5
19. अथर्ववेद— 6.6.17
20. ऐतरेयब्राह्मण— 7.16
21. छान्दोग्योपनिषद्— 2.23
22. धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ०— 4
23. तन्त्रवार्तिक, पृ०— 237
24. गौतमधर्मसूत्र, व्याख्याता हरदत्त— 16.1, मनुस्मृति, व्याख्याता गोविन्दराज— 2.25
25. पूर्वमीमांसासूत्र— 1.1.2
26. आपस्तम्बधर्मसूत्र— 2.26.12
27. वसिष्ठधर्मसूत्र— 1.7
28. आपस्तम्बधर्मसूत्र— 1.27.3—4
29. बौधायनधर्मसूत्र— 2.11.11—12
30. आपस्तम्बधर्मसूत्र— 1.20.1—2
31. आपस्तम्बधर्मसूत्र— 1.13.4, 1.21.11, 2.2.2
32. विष्णुधर्मसूत्र— 20.40
33. महाभारत, अनु०— 115.1
34. महाभारत, वन०— 373.76
35. मनुस्मृति, (कुल्लूक)— 2.1
36. धर्मसूत्रपरिशीलन, पृ०— 83